क्रांति में आत्मगत शक्तियों की भूमिका

'लाल सलाम' के विगत अंकों में से कई एक में हमने अलग-अलग दृष्टिकोणों से यह बात स्थापित करने का प्रयास किया है कि क्रांतिकारी संकट के बिना, वस्तुगत परिस्थितियों के तैयार हुए बिना क्रांति असंभव है। क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियों से हमारा आशय यह है : समाज विकास की एक निश्चित अवस्था में उत्पादक शक्तियों के विकास के फलस्वरूप वे मौजूदा उत्पादन संबंधों से टकराने लगती हैं। उत्पादक शक्तियों और उत्पादन संबंधों के बीच के टकराव से क्रांतिकारी संकट उत्पन्न होते हैं, क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियां तैयार होती हैं। यदि क्रांतिकारी संकट की स्थिति में क्रांति हो जाती है तो समाज विकास की एक नई मंजिल में दाखिल हो जाता है। [यदि क्रांति नहीं होती है तो क्रमिक सुधारों से भी समाज नई मंजिल में प्रवेश कर सकता है। समाज विकास की इस प्रक्रिया (सुधार व क्रांति) से पूंजीवाद तक का ही समाज आ सकता है। पूंजीवाद से समाजवाद में रूपांतरण क्रांति से ही होगा] इसी प्रकार समाज आगे विकास करता है।

हमने यह भी कहा था कि उत्पादक शक्तियों के आगे विकास के लिए उत्पादन सम्बन्धों के उनके अनुरूप न रह जाने का मतलब यह नहीं होता है कि समाज अब अनवरत क्रांतिकारी संकट की अवस्था में रहेगा या कि क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियां हमेशा क्रांति के लिए तैयार ही रहेंगी। उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बधों के बीच अंतर्विरोध विभिन्न कारकों के चलते आंशिक रूप से हल भी हो सकते हैं और उनके बीच का टकराव अलग-अलग समयों पर कम या ज्यादा हो सकता है।

इस प्रकार, मानव समाज का विकास एक वस्तुगत नियम से होता है। यह विकास उत्पादक शक्तियों के निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर होता है। इसके अनुरूप ही उत्पादन संबंध बनते-बिगड़ते रहते हैं। उत्पादन शक्तियों से बेमेल उत्पादन संबंधों का खात्मा ऐतिहासिक तौर पर अनिवार्य है। मानव समाज के इतिहास की यही अनिवार्य नियति है। समाज विकास के ये वस्तुगत नियम इंसानों की मनोगत इच्छाओं से स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं।

उन लेखों में बार-बार यह भी स्पष्ट किया गया है कि क्रांतिकारी संकट या क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियां कब तैयार मानी जानी चाहिए। क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियों के तैयार होने के मुख्य लक्षण ये हैं कि इसमें जनता की भारी संख्या राजनीतिक रूप से सक्रिय हो जाती है। क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियों के तैयार होने के समय जनता पुराने ढंग से रहना नहीं चाहती और शासक वर्ग भी पुराने ढंग से शासन चलाने में अक्षम सिद्ध हो जाता है। इसके साथ ही जनता की बदहाली असामान्य रूप से बढ़ जाती है और उसकी जीवन परिस्थितियां अत्यंत असहनीय हो जाती हैं। इन तीनों लक्षणों की उपस्थिति ही क्रांतिकारी संकट की मौजूदगी को दर्शाती है।

'लाल सलाम' को क्रांतिकारी संकट, क्रांतिकारी परिस्थिति के लक्षणों को इसलिए जोर देकर कहना पड़ा क्योंकि हमारे देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन में क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियों के तैयार होने की बात अत्यंत जोर देकर कही जाती है। और इसके उलट आत्मगत शक्तियों की कमजोरी को बार-बार रेखांकित किया जाता है। क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियों के तैयार होने और आत्मगत शक्तियों के बीच द्वन्द्वात्मक अंतर्संबंध होता है। हमें जोर देकर यह बात कहनी पड़ी कि आज हमारे देश में क्रांतिकारी परिस्थिति नहीं है और कि जब तक क्रांतिकारी परिस्थिति तैयार नहीं हो जाती है तब तक हमें धैर्य के साथ लंबे समय तक जनता को क्रांति के लिए तैयार करना पड़ेगा। यह क्रांति के लिए तैयारियों का काल है। क्रांति की परिस्थिति को हम अपनी इच्छाओं या बुद्धि से पैदा नहीं कर सकते। क्रांति की परिस्थिति तो समाज में वस्तुगत कारकों से पैदा होती है। हमने क्रांतिकारी परिस्थिति और आत्मगत शक्तियों के अंतर्सबन्धों में क्रांतिकारी परिस्थिति के लिए वस्तुगत कारकों की महत्ता पर जोर दिया था। इसका यह अर्थ नहीं था कि हमारे लिए आत्मगत शक्तियों की क्रांति में भूमिका कोई मायने नहीं रखती है, कि क्रांति में आत्मगत शक्तियां कोई भूमिका नहीं निभाती हैं।

इस लेख में हम इसी प्रश्न को लेंगे कि आत्मगत शक्तियां क्रांति में किस प्रकार अपनी भूमिका अदा करती हैं? क्रांति में आत्मगत शक्तियों का महत्व क्या है? आत्मगत शक्तियां ऐतिहासिक अनिवार्यता में खुद कैसा व्यवहार करती हैं आदि आदि?

I

> "... इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा के अनुसार, इतिहास का निर्णायक तत्व **अंततोगत्वा** वास्तविक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन है। इससे अधिक न मार्क्स ने और न मैंने ही कभी कहा है। अतः यदि कोई इसे तोड़-मरोड़ कर यों कहे कि आर्थिक तत्व ही **एकमात्र** निर्णायक तत्व है, तो वह हमारी प्रस्थापना को निरर्थक, अमूर्त और खोखली शब्दावली मात्र बना देता है। आर्थिक परिस्थिति बुनियाद है, पर ऊपरी ढांचे के विविध तत्व वर्ग संघर्ष के राजनीतिक रूप और परिणाम, जैसे विजयी वर्ग द्वारा संघर्ष में सफलता प्राप्त करने के बाद संस्थापित राजकीय व्यवस्था, आदि, कानूनी रूप और इनके साथ इन वास्तविक संघर्षों का उनमें भाग लेने वालों के मस्तिष्कों पर अक्स, राजनीतिक, न्यायिक, दार्शनिक सिद्धांत, धार्मिक मत और जड़सूत्री पद्धतियों के रूप में उनका

> विकास- ऐतिहासिक संघर्ष की प्रक्रिया पर अपना प्रभाव डालते हैं और अक्सर मुख्यतः उसके **रूप** के निर्धारण में इनका ही पलड़ा भारी रहता है। इन सारे तत्वों की अन्योन्यक्रिया चलती है, जिसमें आकस्मिक घटनाओं के अनंत समूह के मध्य से, (अर्थात् ऐसी चीजों और घटनाओं के अनंत समूह के मध्य से, जिनका आंतरिक संबंध इतना दूरवर्ती अथवा प्रमाणहीन होता है कि हम उसे अनुपस्थित अथवा नगण्य मान ले सकते हैं) आर्थिक गति अंततोगत्वा अनिवार्य गति के रूप में प्रकट होती है। ऐसा न हो तो इच्छानुसार इतिहास के किसी युग में इस सिद्धांत को लागू करना गणित के सरलतम समीकरण को हल करने से भी अधिक आसान होता।
>
> " हम अपने इतिहास की रचना स्वयं करते हैं, पर प्रथमतः, अतिनिश्चित मान्यताओं और परिस्थितियों के अंतर्गत करते हैं। इनमें आर्थिक मान्यताएं और परिस्थितियां अंततोगत्वा निर्णायक होती हैं। पर राजनीतिक और अन्य परिस्थितियां, यहां तक कि मानव मस्तिष्क पर छायी परंपराएं भी एक भूमिका अदा करती हैं, यद्यपि वे निर्णायक नहीं होती। प्रशियाई राज्य भी ऐतिहासिक कारणों से, अंततोगत्वा आर्थिक कारणों से उद्भूत और विकसित हुआ। लेकिन यह कहना कोरा पंडिताऊपन बघारना होगा कि उत्तर जर्मनी के बहुत सारे छोटे-छोटे राज्यों में से केवल ब्रांडेनबर्ग के ही भाग्य में महान शक्ति की भूमिका अदा करना लिखा था, जहां उत्तर और दक्षिण के आर्थिक, भाषागत और धर्म सुधार के उपरांत धार्मिक अंतर मूर्तिमान हुए और ऐसा केवल आर्थिक आवश्यकता के कारण होना था तथा उसमें अन्य तत्वों का (सर्वप्रथम इस तथ्य का कि ब्रांडेनबर्ग प्रशा के स्वामित्व की वजह से पोलैंड-संबंधी मामलों से और इस कारण अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक संबंधों से उलझा हुआ था- ये तत्व वस्तुतः आस्ट्रियाई राजवंश के गठन में निर्णायक सिद्ध हुए थे) कोई हाथ नहीं था। जर्मनी के अतीत कालीन और समकालीन हर नन्हे राज्य के अस्तित्व की व्याख्या केवल आर्थिक ढंग से करने की चेष्टा करना अथवा उत्तर जर्मन व्यंजन विवर्तन की, जिसे सुदेत से ताउनेस तक फैले पर्वतों के भौगोलिक विभाजन ने चौड़ा करके जर्मनी के आर-पार एक विस्तृत दरार का रूप दे दिया है, उत्पत्ति को आर्थिक ढंग से समझा देने की कोशिश करना हास्यास्पद है।" - (कनिग्सबर्ग में जोजफ ब्लोख को एंगेल्स का पत्र, लंदन 21[-22] सितम्बर, 1890, कार्ल मार्क्स फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित पत्र व्यवहार 1844 -1895, प्रगति प्रकाशन, मास्को, जोर मूल में, पृष्ठ-304-305)

एंगेल्स द्वारा जोजफ ब्लोख को लिखे गये पत्र के दोनों पैराग्राफ में बहुत स्पष्ट रूप से ऊपरी ढांचे के महत्व को रेखांकित किया गया है। विचारधारा, राजनीति, राजकीय संस्थाएं आदि ऐतिहासिक संघर्ष की प्रक्रिया पर अपना प्रभाव डालते हैं। मार्क्स-एंगेल्स ने कभी भी यह नहीं कहा कि आर्थिक परिस्थितियां ही एक मात्र निर्णायक तत्व हैं। मार्क्स और एंगेल्स ने आर्थिक कारकों को निर्णायक तत्व माना किंतु उन्होंने कभी भी अधिरचना के कारकों को कम करके नहीं आंका। समाज विकास में कई बार ऐसे मोड़ आते हैं जब अधिरचना भी निर्णायक तत्व बन जाती है। उदाहरण स्वरूप समाजवादी क्रांति के बाद विचारधारा, राजनीति, पार्टी आदि की भूमिका निर्णायक हो जाती है।

एंगेल्स 14 जुलाई, 1893 को फ्रांज मेहरिंग को लिखे अपने पत्र में भी इतिहास पर विचारधारात्मक क्षेत्रों के प्रभाव की भूमिका को स्पष्ट करते हैं।

> " सिद्धांतकारों का यह अहमकाना ख्याल इसके साथ ही जुड़ा हुआ है कि चूंकि हम इतिहास में भूमिका अदा करने वाले विभिन्न विचारधारात्मक क्षेत्रों के स्वतंत्र ऐतिहासिक विकास से इन्कार करते हैं, इसलिए हम **इतिहास पर** इनके किसी भी **प्रभाव** से इंकार करते हैं। इस खामख्याली का आधार कारण और कार्य को सर्वथा विरोधी ध्रुवीय छोर मानने की सामान्य अद्वन्द्वात्मक धारणा और अन्योन्य क्रिया की पूर्ण अवहेलना है। ये महानुभाव प्रायः जानबूझकर यह भुला देते हैं कि जब कोई ऐतिहासिक तत्व अन्य, अंततः आर्थिक कारणों से दुनिया में प्रकट हो चुकता है, तो वह सक्रिय कारक बन जाता है और परिवेश पर और यहां तक कि उन कारणों पर भी, जिन्होंने उसे जन्म दिया है, उलट कर प्रभाव डाल सकता है। ... (वही, पृष्ठ-336)

मानव समाज के इतिहास का विकास क्रम आर्थिक कारकों और ऊपरी ढांचे के कारकों की- हालांकि आर्थिक कारक ही निर्णायक हैं- जिस अन्योन्य क्रिया से आगे बढ़ता है उसके स्पष्ट हो जाने के बाद अब हम समाज विकास के वस्तुगत नियम और आत्मगत शक्तियों के अंतर्संबंधों पर चर्चा कर लेते हैं।

पहले समाज विकास के वस्तुगत नियमों के संदर्भ में चंद बातें।

इसमें कोई संदेह न हो सकता है और न होना चाहिए कि समाज में क्रियारत नियम वैसे ही वस्तुगत होते हैं और मनुष्य की इच्छाओं से स्वतंत्र होते हैं जैसे कि प्रकृति के नियम।

किंतु प्रकृति के नियमों और समाज के नियमों में अंतर भी है। इसमें सबसे प्रमुख अंतर यह है कि प्रकृति के नियम लोगों की इच्छाओं और चेतना से ही नहीं, बल्कि मनुष्यों से भी पूरी तरह स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए गुरूत्वाकर्षण का नियम तब भी कार्यरत था जब मनुष्य नहीं था और वैसे ही अब भी कार्यरत है। इस प्रकार प्राकृतिक नियमों के लिए मनुष्य के होने या न होने से कोई फर्क नहीं पड़ता है। हां, यह अलग बात है कि मानवजाति प्राकृतिक नियमों को जानकर प्रकृति का अपने लिए उपयोग करे।

किंतु, समाज विकास के नियमों के लिए बात ठीक ऐसी ही नहीं है। यद्यपि समाज विकास के नियम मानव की इच्छाओं और चेतना से स्वतंत्र कार्य करते हैं, फिर भी इस कार्य को मूर्तरूप मनुष्यों तथा उनकी कार्यवाहियों से ही मिलता है। इसलिए मानव समाज का समस्त इतिहास मानव के कार्यकलापों का फल है। अतः मानवीय कार्यकलाप इतिहास के नियमों के कार्यकलाप के लिए आवश्यक शर्तों के समूह का ही एक हिस्सा हैं। अतः हम कह सकते हैं कि मनुष्य अपने इतिहास की रचना स्वयं करते हैं किंतु वे ऐसा अतिनिश्चित मान्यताओं

एवं परिस्थितियों के अंतर्गत ही करते हैं। वे अपनी इच्छानुसार अपने इतिहास की रचना नहीं कर सकते हैं। और यह भी कि लोगों के **बिना प्रयास के** क्रांति करके समाज के विकास को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता है।

इस प्रकार समाज विकास के ऐतिहासिक नियम मनुष्यों की कार्यवाहियों के माध्यम से प्रकट होते हैं। किंतु मार्क्स-एंगेल्स द्वारा ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धांत की खोज से पहले मनुष्य को इन नियमों का ज्ञान नहीं था। ऐतिहासिक विकास स्वतः स्फूर्त ढंग से होता था। मनुष्य अचेतन रूप से इतिहास का निर्माण करते थे। इसी से यह निष्कर्ष भी निकाला गया या भ्रम पैदा हुआ कि इतिहास की रचना मनुष्यों पर निर्भर नहीं है। 18 वीं सदी की सबसे शानदार क्रांति, फ्रांसीसी बुर्जुआ क्रांति का उद्भव, विकास और उसका परिणाम ही यह बताने के लिए पर्याप्त है कि न तो उस क्रांति के नेताओं ने और न ही उस क्रांति को जन्म देने वाले विचारकों ने ही फ्रांसीसी क्रांति के विकास और परिणाम के बारे में पूर्व कल्पना की थी।

इस बारे में एंगेल्स ने 'लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अंत' में लिखा है-

> "... इसके विपरीत, समाज के इतिहास में कार्य करने वाले लोग चेतना सम्पन्न होते हैं; वे सोच विचार या आवेग से काम करते हैं, उनके कार्य का एक विशेष लक्ष्य होता है; कोई भी चीज बगैर सचेतन ध्येय के, बगैर किसी उद्दिष्ट अभिप्राय के नहीं होती। लेकिन यह भेद, ऐतिहासिक छानबीन के लिए– विशेषकर अमुक विशेष युगों तथा घटनाओं की छानबीन के लिए– महत्वपूर्ण होते हुए भी इस तथ्य को नहीं बदल सकता कि इतिहास का क्रम आन्तरिक सामान्य नियमों के अधीनस्थ है। वास्तव में यहां भी सभी व्यक्तियों के चेतन रूप से इच्छित लक्ष्यों के बावजूद, प्रकटतः सतह पर आकस्मिकता का ही राज दिखाई देता है। जिसकी इच्छा की जाती है, वह बिरले ही कभी होता है; अधिकांशतः अनगिनत इच्छित ध्येय आपस में टकराते हैं और एक दूसरे के मार्ग में बाधक होते हैं; या ये लक्ष्य स्वयं ऐसे होते हैं; जो आरम्भ से ही असाध्य होते हैं अथवा उनकी पूर्ति के साधन ही अपर्याप्त होते हैं। इस तरह इतिहास के क्षेत्र में अनगिनत व्यक्तिगत इच्छाओं और व्यक्तिगत क्रियाओं के टकराव द्वारा एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो जड़ प्रकृति के क्षेत्र में प्रचलित स्थिति के बिल्कुल समान होती है। कार्यों के लक्ष्य उद्दिष्ट होते हैं, पर इन कार्यों द्वारा वास्तव में जो नतीजे निकलते हैं, वे उद्दिष्ट नहीं होते, पर जब वे उद्दिष्ट लक्ष्य के अनुरूप ज्ञात भी होते हैं, तो उनके अंतिम फल अंततः उद्दिष्ट से बिल्कुल भिन्न होते हैं। ऐतिहासिक घटनाएं भी, इस प्रकार, समग्रतः संयोग के अधीन ज्ञात होती हैं। पर जहां बाहर से सतह पर आकस्मिकता का बोल-बाला दिखाई देता है, वहां वस्तुतः सदैव आंतरिक, अप्रगट नियमों का शासन चलता है। ..."
>
> (फ्रेडरिक एंगेल्स, 'लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अंत'; का. मार्क्स-फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित रचनाएं तीन खण्डों में, खण्ड-3 भाग-2, पेज-250, प्रगति प्रकाशन, मास्को)

मार्क्सवाद के उदय और समाज विकास के नियमों की खोज के बाद ऐतिहासिक विकास का स्वरूप बदल गया। अब समाज में कार्यरत इन नियमों को जान समझकर वह ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या कर सकता था, ऐतिहासिक घटनाओं की उत्पत्ति और विकास को समझ सकता था। इन नियमों की खोज के बाद आम जनता के सामने पहली बार यह संभावना पैदा हुई कि वह सचेतन ढंग से इतिहास निर्माण कर सकती है। इसके आधार पर वर्गो की आकांक्षाओं, उनके हितों को लेकर टकराव और भावी समाज के निर्माण के बारे में मोटे तौर पर जाना समझा जा सकता है। 20 वीं सदी की सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में हुई क्रांतियां सचेत इतिहास निर्माण को ही व्यक्त करती हैं।

यहां पर यह भी स्पष्ट हो लेना आवश्यक है कि समाज विकास के वस्तुगत नियमों को कोई जानता हो या न जानता हो, किंतु बिना कार्यवाही के क्रांति नहीं हो सकती। वस्तुगत नियमों को जानना सचेत इतिहास निर्माण की बुनियादी शर्त है किंतु इन नियमों के आधार पर व्यावहारिक कार्यवाहियां करना दूसरी प्रमुख शर्त है। पहली शर्त को पूरा करने के उपरांत दूसरी शर्त ही प्रधान निर्णायक तत्व बन जाती है। उदाहरण के लिए मान लें दुनिया के मजदूर यह जान जायें कि पूंजीवाद के जन्म, विकास और पतन के नियम क्या हैं। उन्हें यह भी ज्ञात हो जाये कि पूंजीवाद के स्थान पर समाजवाद का आना अनिवार्य है। किंतु क्या इतने भर से पूंजीवाद का खात्मा हो जायेगा? बिल्कुल नहीं। पूंजीवाद का खात्मा और समाजवाद की स्थापना तभी हो सकती है जब मजदूर वर्ग ऐतिहासिक नियमों को जानकर पूंजीवाद **के खात्मे** और समाजवाद के निर्माण का **व्यावहारिक कार्य** भी हाथ में लेगा। हालांकि पूंजीवाद का खात्मा क्रांतिकारी संकट की अवस्था में ही किया जा सकता है। **पूंजीवाद का खात्मा और समाजवाद के निर्माण का कार्यभार इसलिए क्रांतिकारी जनता पर, उसकी संगठनबद्धता और सचेतन तत्व पर और पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध लड़ने के लिए उनकी तत्परता पर निर्भर है।** यहां पर ऐतिहासिक नियतिवाद के लिए कोई जगह नहीं है।

II

क्रांति के लिए दो चीजें आवश्यक हैं: एक क्रांतिकारी परिस्थिति या क्रांतिकारी संकट की मौजूदगी और दूसरा क्रांति की आत्मगत शक्तियां। क्रांतिकारी परिस्थिति या क्रांतिकारी संकट को हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं।

क्रांति की आत्मगत शक्तियों से यहां हमारा आशय उन कारकों से है जो क्रांति को संगठित करने व क्रांति को सम्पन्न करने में अहम् भूमिका निभाते हैं। इसमें प्रथमतः क्रांतिकारी जनसमुदाय की भूमिका होती है। क्रांतिकारी जनसमुदाय ही क्रांति को संपन्न करते हैं। जनता ही इतिहास की वास्तविकता निर्माता है। इसके बाद क्रांतिकारी पार्टी की भूमिका होती है।

क्रांतिकारी पार्टी से यहां हमारा आशय पार्टी लाइन, पार्टी उपकरण और पार्टी कार्यकर्ताओं से है। पार्टी लाइन का मतलब पार्टी की विचारधारात्मक, राजनीतिक व सांगठनिक कार्यदिशा से है। जनसमुदाय क्रांतियां करते हैं और पार्टी क्रांतिकारी जनसमुदाय को क्रांति में नेतृत्व प्रदान करती है। पार्टी क्रांति में जनसमुदाय का नेतृत्व सही तरीके से तभी कर सकती है, जब पार्टी लाइन सही हो।

क्रांति को सम्पन्न करने वाले कारकों की भूमिका के संदर्भ में उपर्युक्त सारी बातें हम आज के संदर्भ में कह रहे हैं। मार्क्सवाद के उद्भव से पहले, सचेत इतिहास निर्माण के दौर से पहले आत्मगत शक्तियों की इस प्रकार सचेत भूमिका का प्रश्न ही नहीं उठा था और न ही उठ सकता था। क्रांति के लिए आवश्यक इन दो तत्वों में से किसी के भी परिपक्व न होने पर क्रांति सम्पन्न नहीं हो सकती। क्रांतिकारी परिस्थिति यदि तैयार नहीं है, क्रांतिकारी संकट यदि विद्यमान नहीं है तो क्रांति की आत्मगत शक्तियों के बलबूते पर क्रांति नहीं की जा सकती। हां, विद्रोह किये जा सकते हैं, छिटपुट भी और अपेक्षाकृत थोड़े व्यापक भी। किंतु ऐसे विद्रोह क्रांति संपन्न करने की ओर उन्मुख नहीं हो सकते। इसका उलटा भी सच है कि प्रत्येक क्रांतिकारी परिस्थिति या क्रांतिकारी संकट में क्रांति हो ही जाये, यह भी आवश्यक नहीं। विश्व इतिहास में ऐसे ढेरों उदाहरण भरे पड़े है। जर्मनी में 1918 में ऐसी ही क्रांतिकारी परिस्थिति विद्यमान थी। जर्मनी में क्रांति शुरू हो गयी थी और संवैधानिक राजतंत्र का तख्ता उलट दिया गया था। किंतु क्रांति बुर्जुआ दायरे को लांघकर सर्वहारा क्रांति की ओर नहीं जा पायी। इसकी मूल वजह आत्मगत शक्तियों की कमजोरी थी।

किसी गलतफहमी से बचने के लिए यहां हम यह स्पष्ट कर दें कि आत्मगत शक्तियों के हमने यहां जो कारक गिनाये हैं वे इतिहास की वस्तु भी हैं और कर्ता भी। इतिहास की वस्तु होने के नाते वे वस्तुगत कारक हैं किंतु क्रांति में, क्रांति को संगठित करने के सक्रिय सचेत तत्व की भूमिका अदा करने के कारण ही यहां हम उन्हें आत्मगत शक्तियां कह रहे हैं।

यह सच है कि आज क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियां, क्रांतिकारी संकट मौजूद नहीं है अर्थात् आम जनता न तो इस स्थिति में है कि वह मौजूदा शासन व्यवस्था के तहत शासित होने से इंकार कर दे और न ही शासक वर्ग की अभी यह स्थिति है कि वह अपना शासन सामान्य तौर तरीकों से न चला पा रहा हो। जनसमुदाय की राजनीतिक सक्रियता का स्तर अभी बहुत नीचे है। जनसामान्य की बदहाली भी असामान्य रूप से अभी उस स्तर पर नहीं है जैसा कि क्रांतिकारी संकटों के समयों में होती है। मजदूर वर्ग अभी प्रत्याक्रमण करने के बजाय पीछे हट रहा है और पूंजीपति वर्ग हमलावर है। अन्य क्रांतिकारी वर्गों और तबकों का भी यही हाल है। मौजूदा समय में शक्ति संतुलन देश के पैमाने पर (और वैश्विक पैमाने पर भी) पूंजीपति वर्ग के पक्ष में झुका हुआ है। मजदूर वर्ग और अन्य क्रांतिकारी वर्गों में निराशा और पस्तहिम्मती छायी हुई है। व्यापक जनसंघर्षों का अभाव है। मजदूर वर्ग समेत सभी क्रांतिकारी वर्गों और तबकों में बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा और संस्कृति ही हावी है। मजदूर वर्ग समेत अन्य क्रांतिकारी शक्तियां पूंजीवादी पार्टियों और उनके संगठनों की ही गिरफ्त में हैं। इन वजहों से क्रांति आसन्न प्रतीत नहीं होती जैसे कि आमतौर पर क्रांतिकारी समयों में होता है। क्रांतिकारी समयों में क्रांति की आसन्नता क्रांतिकारी कार्यकर्ताओं के साथ-साथ क्रांतिकारी जनता में भी क्रांति के प्रति आशा को पैदा कर रही होती है। क्रांति को संगठित करने वालों से लेकर क्रांति में भागीदारी करने और उसे सम्पन्न करने वाली जनता तक, यहां तक कि समाज के पिछड़े से पिछड़े तत्व भी क्रांति में असीम उत्साह के साथ खिंचकर आ जाते हैं। और यदि समय गैर क्रांतिकारी हो तो न सिर्फ क्रांतिकारी जनता सुप्तावस्था में चली जाती है वरन् क्रांति को संगठित करने वाले कार्यकर्ता भी निराशा और पस्तहिम्मती का शिकार होने लगते हैं। उनमें से अनेकों क्रांति में अपना विश्वास खोने लगते हैं।

किंतु यदि क्रांति को संगठित करने वाली ताकतें वस्तुगत यथार्थ के केवल एक पहलू को देखें अर्थात् यदि क्रांतिकारी ताकतें वस्तुगत यथार्थ में से क्रांति के लिए मात्र नकारात्मक पहलुओं को ही देखें तो उसका व्यावहारिक परिणाम क्या निकलेगा? यही कि क्रांति अभी होने वाली नहीं है। और ऐसे में निराशा और पस्तहिम्मती के साथ-साथ दक्षिणपंथी अवसरवाद क्रांतिकारी ताकतों में जड़ जमाने लगता है।

इसका उलटा भी होता है। हमारे क्रांतिकारी आंदोलन के एक अच्छे खासे हिस्से में यह भावना मौजूद है कि क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियां तैयार हैं और इसलिए हमें क्रांति का आह्वान करते हुए जनता और क्रांतिकारी ताकतों को इकट्ठा करना चाहिए। ऐसे लोग सोचते हैं कि बस क्रांति के लिए संघर्ष शुरू करने की देर भर है, संघर्ष शुरू होते ही जनता क्रांति में खिंच आयेगी। क्रांति की वस्तुगत परिस्थिति का ऐसा मूल्यांकन कार्यकर्ताओं में तात्कालिक जोश और जुनून तो पैदा करता है किंतु यथार्थ से बेमेल होने के कारण ऐसी सोच पहले 'वामपंथी' दुस्साहसवाद की ओर तथा बाद में फिर दक्षिणपंथी अवसरवाद की ओर ले जाती है। इसमें निश्चय ही दक्षिणपंथी अवसरवाद ज्यादा खतरनाक है।

वस्तुगत यथार्थ के केवल एक पहलू और वह भी क्रांति के लिए विपरीत पहलू को ही देखने पर क्रांतिकारी संगठनकर्ताओं के भीतर एक अन्य तत्व भी काम करने लगता है। इससे पैदा होने वाली निराशा व पस्तहिम्मती के अलावा एक दूसरी बात यह है कि वे समझने लगते हैं कि क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियां तैयार न होने के कारण क्रांति अभी निकट भविष्य में नहीं होने जा रही है। कि क्रांति अभी दूर भविष्य की चीज है। और इसलिए क्रांतिकर्म को पूरी जद्दोजहद के साथ, पूरी तत्परता के साथ, सम्पूर्ण समर्पण और त्याग की महान

भावना के साथ करने के बजाय, आराम से, धीरे-धीरे किया जाने लगता है। वे सोचने लगते हैं कि जब क्रांति आयेगी तब खुद को क्रांति की परिस्थितियों के अनुरूप ढाल लेंगे, तब सब कुछ क्रांति के लिए कुर्बान कर देंगे, तब क्रांति में त्याग की उदात्त भावना के साथ लग जायेंगे अभी तो आराम से चलने का वक्त है। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी बातें और व्यवहार जोश-खरोश विहीन हो जाते हैं। उद्वेलन विहीन हमारी बातें व व्यवहार आम जनता में जोश भरने के बजाय उलटा ही असर डालती हैं। वे जनता में और भी ठंडापन पैदा करती हैं।

यहां भी कार्यकर्ताओं और जनता के बीच अंतर्क्रिया एकांगी नहीं होती है। आम जनता के साथ क्रांतिकारी कार्यकर्ता जब अन्तर्क्रिया करते हैं तो आम जनता में व्याप्त निराशा और पस्तहिम्मती उन्हें और भी ज्यादा निराशा और पस्तहिम्मती की ओर धकेल देती है। कार्यकर्ता अपनी क्रांतिकारी बातों के जवाब में जब जनता से ठंडी प्रतिक्रिया प्राप्त करते हैं तो इसका वे स्वाभाविक रूप से यही अर्थ लगाते हैं कि क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियां तैयार न होने की वजह से क्रांति अभी हाल-फिलहाल नहीं होने वाली है।

ऐसा नहीं है कि यह मात्र उन कार्यकर्ताओं के साथ होता है जो यह मानते हैं कि क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियां अभी तैयार नहीं हैं। यह उन कार्यकर्ताओं के साथ भी होता है जो मानते हैं कि क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियां तैयार हैं और क्रांति आत्मगत शक्तियों की कमजोरी के कारण नहीं हो रही है। बस अंतर सिर्फ इतना होता है कि क्रांति के ऐसे कार्यकर्ता निराशा और पस्तहिम्मती के शिकार थोड़े समय के उपरांत होते हैं। ऐसे कार्यकर्ता व्यवहारिक कामों के दौरान एक समय के बाद यह महसूस करने लगते हैं कि उनकी क्रांति के संबंध में की गई क्रांतिकारी बातों से जनता क्रांति के लिए उमड़ नहीं पड़ रही है। इस प्रकार क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियों के संबंध में क्रांति की विरोधी चीजों को बढ़ा-चढ़ा कर देखने से या इसका उल्टा देखने का कुल परिणाम क्रांतिकारी शक्तियों को दक्षिणपंथी अवसरवाद की ओर ले जाता है। इसलिए क्रांति के वस्तुगत कारकों के यथार्थ पर आधारित वस्तुगत मूल्यांकन की जरूरत है। क्रांतिकारी शक्तियों को क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियों के मूल्यांकन में दोनों छोरों से बचने की जरूरत है।

क्या इसका अर्थ यह निकलता है कि हमें क्रांतिकारी कार्यकर्ताओं को निराशा या अति उत्साह से बचाने के लिए और बचने के लिए क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियों का मूल्यांकन इसको ध्यान में रखकर करना चाहिए? नहीं, इसके बजाय क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियों का मूल्यांकन ऐसा होना चाहिए जो वस्तुगत यथार्थ से मेल खाये, चाहे ये वस्तुगत यथार्थ कितना भी कड़वा क्यों न हो। कम्युनिस्ट क्रांतिकारी वस्तुगत सच्चाई से मुंह छिपाकर क्रांति नहीं कर सकते। इसके विपरीत वे वस्तुगत यथार्थ का सामना करके ही क्रांति सम्पन्न कर सकते हैं। वस्तुगत यथार्थ का हमारा मूल्यांकन जितना सटीक होगा, हम उस यथार्थ के अनुरूप खुद को उतने ही अच्छे तरीके से तैयार कर पायेंगे। यदि आज देश-दुनिया के हालात ऐसे हैं जिनमें क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियां, क्रांतिकारी संकट विद्यमान नहीं है तो इससे हमारा परिचय, मानसिक रूप से इस बात के लिए खुद को तैयार करने का आधार देता है कि हम एक ओर क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियां, क्रांतिकारी संकट के तैयार होने तक दृढ़तापूर्वक, पूरे उत्साह और लगन के साथ लंबे समय तक भी क्रांति की तैयारी में जुट सकें और दूसरी ओर हम क्रांतिकारी संकट या क्रांति की वस्तुगत परिस्थिति को करीब लाने के लिए प्रयत्नशील रहें। इसके बावजूद कि क्रांतिकारी संकट के पैदा होने में निर्णायक भूमिका वस्तुगत कारक ही अदा करेंगे।

कार्यकर्ताओं को निराशा व पस्तहिम्मती से बचाने के लिए एक ओर क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियों का सटीक मूल्यांकन होना चाहिए जिससे हम निराश व पस्तहिम्मत होने के बजाय ज्यादा धैर्य और लगन से काम कर सकें तो दूसरी ओर हमें सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के महत्व को ज्यादा गहराई से समझने की आवश्यकता है। विचारधारा पर हमारी पकड़ जितनी ज्यादा होगी उतना ही ज्यादा हम तात्कालिकता (क्रांतिकारी परिस्थिति होने या न होने दोनों ही अवस्थाओं में) से प्रभावित होने से बच जायेंगे और यह हमें निराशा व पस्त हिम्मती से भी बचाने में मदद करेगा।

जैसा कि हमने पहले ही कहा है, क्रांति की वस्तुगत परिस्थिति, क्रांतिकारी संकट के संदर्भ में मात्र एक पहलू- उसके नकारात्मक पहलू- को देखने से हमारे गलत दिशा में जाने की संभावना बढ़ जाती हैं। इसलिए हमें वस्तुगत यथार्थ के दूसरे पहलू- क्रांति के सम्बन्ध में सकारात्मक पहलू को भी देखना चाहिए। आज हमारे देश में और आम तौर पर दुनिया के स्तर पर भी इसके बावजूद कि क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियां, क्रांतिकारी संकट विद्यमान नहीं है, यह भी सच है कि आज देश के स्तर पर भी और दुनिया के स्तर पर भी एक **तीखा आम संकट** विद्यमान है। और यह तीखा आम संकट स्वयं को कई रूपों में अभिव्यक्त कर रहा है। हमारे देश में और दुनिया के स्तर पर अनेकानेक देशों में राजनीतिक अस्थिरता देखने को मिल रही है। पिछले सत्रह-अठारह वर्षों के दौरान ही हमारे देश में केन्द्र में कितनी सरकारें आयीं और गयीं। राज्यों की भी हालात इससे कुछ जुदा नहीं है। कुछ राज्यों में तो आलम यह है कि पांच वर्षों में ही कितने मुख्यमंत्री बदल जाते हैं। दुनिया के स्तर पर इटली, जापान जैसे देशों में भी सरकार बनने-बिगड़ने का काफी नाटक चलता रहा है। राजनीतिक अस्थिरता की ही एक अभिव्यक्ति हमें चुनी हुई सरकारों की बर्खास्तगी व कम या ज्यादा रूप में तानाशाही पूर्ण सरकारों के काबिज होने के रूप में भी दिखायी देती है। हमारे देश में बुर्जुआ लोकतंत्र ने खुद को इतना शर्मसार कर लिया है कि आम जनता भी बुर्जुआ पार्टियों और बुर्जुआ राजनीतिज्ञों के चरित्र पर तल्ख टीका-टिप्पणी करने लगी है।

हमारे देश में कश्मीर व पूर्वोत्तर में जुझारू राष्ट्रवादी आंदोलन चल रहे हैं। इन क्षेत्रों में कई संगठन सशस्त्र संघर्ष भी चला रहे हैं। शासक वर्ग द्वारा भयंकर दमन के बावजूद राष्ट्रीयता के संघर्ष में नगा, मिजो, कश्मीरी, मणिपुरी आदि राष्ट्रीयताओं की जनता व्यापक पैमाने

पर भागीदारी कर रही है। देश के विभिन्न हिस्सों में आदिवासी अपने अधिकारों को लेकर संघर्ष चला रहे हैं। देश में पिछले दो दशकों में साम्प्रदायिकता ने काफी व्यापकता और गहराई पायी है तथा इसने भयंकर तबाही मचाई है। बाबरी मस्जिद विध्वंस से लेकर गुजरात नरसंहार इसे बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट कर देते हैं। जाति के संघर्ष और जातिगत गोलबंदी ने भी काफी व्यापकता पायी है। दुनिया के स्तर पर भी कई देशों में राष्ट्रीयता के संघर्ष चल रहे हैं। ऐसे संबंधित देशों की सरकारें अपने-अपने देशों के राष्ट्रीयता के आंदोलनों का दमन करने में लगी हैं। कई देशों में तो राष्ट्रीयता की समस्या ने नया उभार पाया है। वैश्विक स्तर पर धार्मिक व नस्लीय कट्टरपंथ काफी तेजी से मजबूती ग्रहण कर रहा है।

वैश्विक स्तर पर पिछले वर्षों में निरंतर विद्यमान आम ठहाराव और इसके बीच में आने वाली तेजी-मंदी ने बेरोजगारी की स्थिति को पूरी दुनिया में और हमारे देश में भी भयावह बना दिया है। शासक वर्गों को इस बेरोजगारी की समस्या से निपटने का कोई रास्ता नजर नहीं आ रहा है। आज तो आलम यह है कि शासक वर्ग रोजगार के नये अवसरों का सृजन करने के बजाय छंटनी के नाम पर लोगों से रोजगार छीन रहा है। हमारे देश में सरकारी आर्थिक सर्वेक्षण भी पिछले एक दशक में बेरोजगारी बढ़ने की बात को दर्ज कर रहे हैं। यह बेरोजगारी शहरों और देहातों दोनों में बढ़ी है। यह बेरोजगार आबादी हमारे देश में शहरों में उतनी विराट नहीं दिखायी देती क्योंकि इस आबादी की एक व्यापक तादाद गावों में ही जैसे-तैसे जीवन गुजार रही है। हमारे देश का शासक वर्ग इस आबादी को गावों में ही बांधे रखने के लिए अन्यान्य प्रयास करता रहा है। यूरोप के देशों में एशियाई व अफ्रीकी मूल के लोगों को निशाना बनाने में बढ़ती बेरोजगारी भी एक कारक है, भले ही यूरोप के शासक नस्लीय भेदभाव का इस्तेमाल अपने निहित स्वार्थों के लिए कर रहे हों। आज बेरोजगारी निरपेक्ष रूप से बढ़ रही है।

हमारे देश में पिछले डेढ़ दशक से जारी आर्थिक नीतियों का परिणाम यह होने लगा है कि जनता से वे सारी सुविधाएं अब एक-एक कर छीनी जाने लगी हैं जिन्हें सरकार समाजिक सुरक्षा के नाम पर मुहैया कराती थी। सरकार की इन कार्यवाहियों ने सभी समुदायों में असुरक्षा की भावना को और बढ़ा दिया है। मजदूर वर्ग पर पूंजीपतियों के हमलों ने एक ओर उनके जीवन को पहले से भी ज्यादा असुरक्षित कर दिया है तो दूसरी ओर उसकी आर्थिक स्थिति को भी संकटमय बना दिया है। मजदूरी में उतनी वृद्धि नहीं हो पा रही है जितने से उनके जीवन की जरूरतें पूरी हो सकें। ठेका प्रथा और अस्थायी मजदूरों को रखने की प्रवृत्ति ने मजदूरों के जीवन को नारकीय बना दिया है। इन मजदूरों की मजदूरी तो इतनी कम है कि वह उनके परिवार के भरण पोषण के लिए भी पर्याप्त नहीं होती। आम तौर पर ऐसे मजदूर व उनके परिवार के सदस्य जब-तब फांके मार कर ही सोते हैं। शेष विश्व में भी मजदूर वर्ग पर ऐसे ही हमले हो रहे हैं।

हमारे देश में कृषि क्षेत्र गंभीर रूप से संकट ग्रस्त है। कृषि के प्रति सरकारी उपेक्षा और उद्योगों द्वारा कृषि के दोहन ने कृषि व्यवस्था को काफी गहरे तक प्रभावित किया है। छोटी किसानी अर्थव्यवस्था तो बस जैसे-तैसे अपनी अंतिम सांसें गिन रही है। छोटे किसान भारी संख्या में तबाह-बर्बाद हो रहे हैं। पिछले दशक भर में ही कई लाख किसान बर्बाद होकर सर्वहारा की पांतों में भर्ती हो चुके हैं। कृषि संकट स्वयं को किसानों की आत्महत्या के रूप में सबसे अधिक तीव्रता के साथ अभिव्यक्त कर रहा है। भारतीय कृषि में जैसे-जैसे उदारीकृत बाजार व्यवस्था अपना खेल दिखायेगी वैसे वैसे कृषि का संकट और गहराता जायेगा। उसी के अनुरूप मध्यम व गरीब किसानों की तबाही व बर्बादी तीव्र होगी। कृषि संकट का बने रहना और इसका गहराना इसलिए भी अत्यंत गंभीर है क्योंकि हमारे देश की 70 फीसदी आबादी अभी भी गांवों में रहती है और कृषि पर 60 प्रतिशत लोगों की निर्भरता बनती है। कृषि संकट इसलिए भी गंभीर है क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों की तबाह-बर्बाद आबादी शहरों में पलायन उतनी ही तेजी से नहीं कर सकती। उद्योगों की विकास दर इतनी तीव्र नहीं है कि वे किसानी अर्थव्यवस्था से उजड़े लोगों को खपा सकें। इसका परिणाम यह होता है कि ऐसी आबादी का अधिकांश हिस्सा गांवों में ही पड़े रहते हुए नारकीय जीवन जीने को अभिशप्त है।

केवल मजदूर किसान जनता के साथ ही ऐसा नहीं हो रहा है वरन् अन्य मेहनतकश अवाम का भी यही हाल है। बढ़ती मंहगाई ने आम आदमी के यहां तक कि शहरी मध्यम वर्ग के भी बजटों को बिगाड़ दिया है। छोटे-छोटे दुकानदार व शहरों की अर्द्धसर्वहारा आबादी का भी यही हाल है। आज दुनिया में अमीरी और गरीबी की खाई पहले से भी ज्यादा चौड़ी हो गई है। जन समुदाय की क्रय शक्ति में निरपेक्ष गिरावट आ रही है। सट्टेबाजी का बोलबाला है।

इन स्थितियों में अर्थात पूंजीवादी व्यवस्था के संकट की इन स्थितियों में आम जनता इस बदहाली के खिलाफ टुकड़ों-टुकड़ों में प्रतिवाद भी कर रही है। शासक वर्ग जनता को कुछ राहत प्रदान करने के बजाय उससे वह भी छीन रहा है जो उसे मिल रहा था। इससे स्पष्ट है कि पूंजीवादी वैश्विक व्यवस्था के इस संकट के कारण शासक वर्ग कुछ खास देने की स्थिति में नहीं है। दूरगामी तौर पर यह विश्व पूंजीवाद के पतन की ही अभिव्यक्ति है। इसी का परिणाम यह हो रहा है कि एक ओर शासक वर्गों का चरित्र पहले से भी ज्यादा दमनकारी और प्रतिक्रियावादी हो रहा है और शासक वर्ग हर कहीं आम जनता का क्रूरतापूर्वक दमन कर रहा है तो दूसरी ओर शासक वर्ग को जनता के असंतोष को ठंडा करने के लिए भांति-भांति की दिखावटी सरकारी योजनाएं चलानी पड़ रही हैं। यह संकट इतना तीखा है कि साम्राज्यवादियों को इराक व अफगानिस्तान जैसे देशों पर आक्रमण करना पड़ रहा है। 90 के दशक में सोवियत संघ व सोवियत खेमे का विघटन पूंजीवादी व्यवस्था के संकटों की ही अभिव्यक्ति थी।

अर्थव्यवस्था की इस स्थिति ने समाज में सामाजिक तनावों और सांस्कृतिक संकट को अत्यधिक तीखा कर दिया है। पूंजीवादी व्यवस्था के संकट की ही एक अभिव्यक्ति यह भी है कि युवा पीढ़ी हिंसा और अवसाद के खड्ड में गिरती जा रही है। युवाओं मे आत्महत्या करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। विश्व पूंजीवादी दुनिया का तीखा आम संकट हमारे देश में समान रूप से अभिव्यक्त हो रहा है। पूंजीवादी व्यवस्था का यह तीक्ष्ण आम संकट हमारे देश में और दुनिया में भी जनता में व्यापक स्तर पर असंतोष को पैदा कर रहा है। टुकड़े-टुकड़े में और बिखरे रूप में ही सही जनता विभिन्न रूपों में इस सबका प्रतिकार भी कर रही है।

ऐसी स्थिति में यह **तीखा आम संकट** कभी भी आगे बढ़कर क्रांतिकारी संकट में रूपान्तरित हो सकता है। या फिर ऐसा भी हो सकता है कि यह तीखा आम संकट क्रांतिकारी संकट में रूपान्तरित होने के बजाय सालों साल ऐसा ही बना रहे। यदि मान लीजिये कि दूसरी सम्भावना के अनुसार क्रांतिकारी संकट न पैदा हो तो हमें क्या करना चाहिए? हमें निश्चय ही लम्बी तैयारी करनी होगी व दीर्घकालिक योजनायें बनानी होंगी। अपने नियमित काम को जमकर करना होगा जनता के बीच में क्रांतिकारी विचारों का प्रचार करके मौजूदा पूंजीवादी व्यवस्था का समग्र भंडाफोड़ करना होगा। हमें मजदूर वर्ग में क्रांतिकारी प्रचार के द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा डाले गये भ्रमों को दूरकर उसे क्रांति के विचारों, समाजवादी विचारधारा के तहत ले आना होगा।

हमें मजदूर वर्ग समेत सभी मेहनतकशों को छोटी-बड़ी लड़ाइयों में उतारते हुए उन्हें प्रशिक्षित करना होगा। यह संघर्ष आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही प्रकार के होने चाहिए। हम मजदूर वर्ग समेत व्यापक आबादी को वर्ग संघर्ष में उतारकर जितना अधिक प्रशिक्षित कर लेंगे, उतना ही निर्णायक संघर्ष के लिए बेहतर होगा।

स्पष्ट तौर पर अपने प्रचार और आंदोलन के काम हम जितना ही नियमित तौर पर करते हुए व्यापक बनाते जायेंगे उसी में क्रांति के संगठनकर्ता भी क्रांति का नेतृत्व प्रदान करने के लिए बेहतर तरीके से तैयार होंगे अर्थात् जनगोलबंदी (प्रचार व आंदोलन के माध्यम से) की प्रक्रिया में ही क्रांति के कार्यकर्ता भी राजनैतिक और सांगठनिक तौर पर उतने ही परिपक्व होंगे। जनता और क्रांति के संगठनकर्ताओं दोनों का ही क्रांति के लिए प्रशिक्षण और चेतना आवश्यक है।

हममें से कोई भी दावे के साथ नहीं कह सकता कि यह आम संकट कब क्रांतिकारी संकट में रूपान्तरित होगा। हमें इस सम्भावना को संज्ञान में लेकर काम करना होगा कि यह तीखा आम संकट किन्हीं भी राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक या सैनिक उलटफेर और ऐसी ही अन्य घटनाओं के चलते बहुत जल्दी– दो, पांच या दस साल में भी– क्रांतिकारी संकट में रूपान्तरित हो सकता है। अर्जेन्टीना में अभी इसी दशक में आर्थिक व राजनीतिक घटना चक्र ने ऐसे संकट को उत्पन्न कर दिया था।

दीर्घकालिक या तात्कालिक दोनों ही स्थितियों में हमारा काम– जनता में प्रचार व आंदोलन का काम- इसमें मदद करेगा अर्थात आम संकट को क्रांतिकारी संकट की ओर धकेलने में मदद करेगा हालांकि इसमें मुख्य भूमिका वस्तुगत कारकों की ही होगी। इस प्रकार न केवल हमें संगठन बनाकर, जनता को अपने पीछे गोलबंद कर आने वाले क्रांतिकारी संकट में क्रांति को नेतृत्व करने के लिए तैयार रहना चाहिए या इस दिशा में तैयारी करनी चाहिए बल्कि स्वयं आम संकट को क्रांतिकारी संकट में रूपान्तरित करने का प्रयास करना चाहिए।

> "अन्त में चंद शब्द संभव गलतफहमी से बचने के लिए। हमने लगातार व्यवस्थित, नियोजित तैयारी की बात की है, फिर भी हमारा मतलब किसी प्रकार यह नहीं रहा है कि तानाशाही को केवल नियमित घेरेबंदी अथवा संगठित हमले से ही उलटा जा सकता है। ऐसा विचार बेहूदा और जड़सूत्री होगा। इसके विपरीत, यह बिल्कुल संभव और ऐतिहासिक दृष्टि से कहीं अधिक संभव है कि तानाशाही उन स्वतः स्फूर्त विस्फोटों अथवा अप्रत्याशित राजनीतिक उलझावों में से किसी एक के दबाव से ध्वस्त हो जाय, जिसका खतरा उसे निरंतर और हर तरफ से रहता है। लेकिन दुस्साहसिक जुएबाजियों से बचने की चाह रखने वाली कोई भी राजनीतिक पार्टी ऐसे विस्फोटों और ऐसे उलझावों की प्रत्याशा को अपनी सरगर्मियों का आधार नहीं बना सकती। हमें लाजिमी तौर से अपनी राह चलना चाहिए, अपने नियमित काम को जमकर करते रहना चाहिए और अप्रत्याशित घटनाओं पर हम जितना ही कम भरोसा करेंगे, उतना ही कम इसका खतरा होगा कि हम किसी अप्रत्याशित "ऐतिहासिक मोड़" की गिरफ्त में आ जायें।"
>
> (लेनिन, कहां से शुरू करें?, संकलित रचनायें खण्ड-1, पृष्ठ- 483-484)

> "... केवल ऐसा संगठन ही उस लचकीलेपन की गारंटी कर सकता है, जिसका एक जुझारू सामाजिक-जनवादी संगठन में होना आवश्यक है, अर्थात यह योग्यता कि संघर्ष की तेजी से बदलती हुई नाना प्रकार की परिस्थितियों के अनुरूप वह तेजी से अपने को बदलता जाये, कि "एक ओर तो जब किसी दुश्मन की ताकत अपने से बहुत ज्यादा हो और जब उसने अपनी सारी शक्ति एक स्थान पर लगा रखी हो, तब वह खुली लड़ाई से बच जाये, और दूसरी ओर, वह इस दुश्मन के ढ़ीलेपन से फायदा उठा सके और जहां दुश्मन को उसकी सबसे कम आशंका हो।"....

यहां फुटनोट काफी महत्वपूर्ण है इसलिए उसे भी हम यहां दे रहे हैं-

> " ईस्क्रा, अंक 4 : कहां से शुरू करें?। नदेज्दिन ने लिखा है: 'क्रांतिकारी संस्कृतिवादी, जो क्रांति की पूर्ववेला का दृष्टिकोण नहीं मानते, इस बात से जरा भी चिंतित नहीं हैं कि उन्हें अभी **एक दीर्घकाल** तक काम करना पड़ेगा' (पृ-62)। हमारा जवाब यह है: यदि हम **एक दीर्घकाल** तक काम करने के वास्ते ऐसी राजनीतिक कार्यनीति और संगठनात्मक योजना तैयार नहीं कर पाते, जो साथ ही **ठीक इस कार्य की प्रतिक्रिया** में सभी आकस्मिकता के समय, घटना-प्रवाह में हर तेजी के समय अपनी चौकी पर होने तथा अपने कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए हमारी पार्टी की तत्परता सुनिश्चत कर सकें, तो हम अपने को महज निकम्मे राजनीतिक

> दुस्साहसिक सिद्ध करेंगे। नदेज्दिन ने अभी कल ही अपने को सामाजिक-जनवादी कहना शुरू किया है, और केवल वही यह भूल सकते हैं कि सामाजिक-जनवाद का लक्ष्य सारी मानवता के जीवन की परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन करना है और इसलिए किसी सामाजिक-जनवादी को इस सवाल से "चिंतित" होने का अधिकार नहीं है कि उसके काम को पूरा होने में कितना समय लगेगा।
>
> "...यह सचमुच एक बड़ी गलती होगी, यदि हम केवल विस्फोटों और सड़कों पर फूट पड़ने वाले संघर्षों की आशा से, या केवल "नीरस दैनिक संघर्ष की प्रगति" के आधार पर अपना पार्टी संगठन खड़ा करेंगे। हमें तो अपना रोजमर्रा का काम **हमेशा** चलाते जाना और सदा हर बात के लिए तैयार रहना है, क्योंकि बहुधा यह बताना असंभव होता है कि विस्फोटों का काल कब समाप्त होगा और कब उसकी जगह शांति का काल आरंभ होगा। जब ऐसे मामले में पहले से कुछ कह सकना संभव भी हो, तब भी हम अपनी इस दूरदर्शिता से लाभ न उठा पायेंगे और संगठन को फिर से नहीं गढ़ सकेंगे, क्योंकि एक ऐसे देश में, जहां निरकुंश शासन कायम है, घटना-प्रवाह में ये परिवर्तन इसलिए आश्चर्यजनक तेजी से होते हैं कि कभी-कभी तो वे जांनिसार द्वारा रात को एक बार छापा मारे जाने से ही संबंधित होते हैं। और खुद क्रांति को भी एक कार्य या घटना हरगिज नहीं समझना चाहिए (जैसा कि नदेज्दिन जैसे लोग संभवतः समझते हैं); वह तो एक ऐसा क्रम होता है, जिसमें कमोबेश जोरदार विस्फोट और न्यूनाधिक निश्छल शांति के काल बारी-बारी से बहुत जल्दी-जल्दी आते रहते हैं। इस कारण हमारे पार्टी संगठन की गतिविधियों का प्रधान तत्व, इस गतिविधि का केन्द्र एक ऐसा काम होना चाहिए, जो ज्यादा जोरदार विस्फोट के काल में भी संभव तथा आवश्यक हो और पूर्ण शांति के काल में भी, अर्थात् उसे राजनीतिक आंदोलन का ऐसा काम होना चाहिए, जो सारे रूस में फैला हो, जो जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डाले और जो जनता के अधिक से अधिक व्यापक हिस्सों के बीच हो।..."
>
> (लेनिन, क्या करें, पृष्ठ 227-229, प्रगति प्रकाशन, मास्को जोर मूल में)

उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात बहुत स्पष्ट है कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को क्रांतिकारी संकट विद्यमान न होने पर व्यवस्थित और नियोजित रूप से अपने काम को नियमित रूप से करना चाहिए। इसके साथ ही हमें इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि आकस्मिक घटनायें यदि किन्हीं संकटों को उत्पन्न करें तो हम अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकें। स्पष्टतः दोनों ही स्थितियों में सांगठनिक काम- प्रचार और आंदोलन- महत्वपूर्ण हो जाते हैं। स्वतः स्फूर्त विस्फोटों या आकस्मिक घटनाओं के समय तो हमारे सांगठनिक काम का महत्व और अधिक बढ़ जाता है।

ऊपर हमने सारी बातें इस रोशनी में की हैं कि क्रांतिकारी परिस्थिति, क्रांतिकारी संकट विद्यमान नहीं है तब हमारे लिए क्या सांगठनिक-राजनीतिक कार्यभार निकलते हैं। और कि तीखे आम संकट की मौजूदगी में किन्हीं आकस्मिक घटनाओं के कारण क्रांतिकारी संकट पैदा हो सकता है। किंतु क्रांतिकारी परिस्थिति होने की स्थिति में तो क्रांति किन्हीं भी छोटी-बड़ी घटनाओं पर भड़क सकती है।

> "...समाजवादी क्रांति केवल किसी बड़ी हड़ताल या सड़क पर प्रदर्शन या भूख हड़ताल या सैनिक विद्रोह या औपनिवेशिक बगावत के कारण से नहीं, अपितु ड्राइफस के मुकदमे अथवा जेबर्न कांड जैसे किसी भी राजनीतिक संकट के कारण या किसी उत्पीड़ित जाति के पृथक होने के बारे में जनमत संग्रह आदि के सिलसिले में भी भड़क सकती है।"
>
> (लेनिन समाजवादी क्रांति तथा जातियों का आत्मनिर्णय का अधिकार, खण्ड- 6,पृष्ठ-40)

ऐसे में जबकि क्रांति की वस्तुगत परिस्थिति तैयार हो तो हमें जनता में क्रांतिकारी चेतना का प्रचार करते हुए उसे जागृत करना होगा तथा क्रांतिकारी कार्यवाही करने के वास्ते उसकी हर संभव मदद करते हुए उसका नेतृत्व करना होगा।

> "...कभी भी किसी भी समाजवादी ने किसी जगह इस बात की जमानत नहीं की कि यही युद्ध (अगला नहीं), कि आज की ही क्रांतिकारी परिस्थिति (कल की नहीं) क्रांति पैदा करेगी। यहां हम जो कह रहे हैं, वह है सभी समाजवादियों के सबसे निर्विवाद और सबसे आधारभूत कर्त्तव्य की बात : जनता के सामने क्रांतिकारी परिस्थिति को उजागर करने, उसके आयाम और गहराई को समझाने, सर्वहारा वर्ग की क्रांतिकारी चेतना और क्रांतिकारी संकल्प को जाग्रत करने, उसे क्रांतिकारी कार्यवाही की तरफ जाने में मदद पहुंचाने और इस प्रयोजन से काम करने के लिए क्रांतिकारी परिस्थिति के अनुकूल संगठन कायम करने के कर्त्तव्य की बात।"
>
> - (लेनिन, दूसरे इंटरनेशनल का पतन, खण्ड- 5, पृष्ठ-87)

हमें जनता के बीच छाई निराशा और पस्तहिम्मती को एक अन्य दृष्टिकोण से भी देखने की जरूरत है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जनता मौजूदा व्यवस्था के विरुद्ध तीखा संघर्ष नहीं कर पा रही है। शासक वर्गों के हमले के आगे हाल-फिलहाल वह असहाय नजर आ रही है। जनसमुदाय का संकट इतना तीखा है कि वह गहरे तक निराशा और पस्तहिम्मती में डूबा हुआ है। शासक वर्गों की नीतियों के कारण यह संकट और तीखा होगा। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप इसकी कम संभावना नहीं है कि इस संकट के परिणाम स्वरूप जनता में जल्दी ही तीखा विस्फोट हो जाय। शासक वर्गों व मौजूदा व्यवस्था के कारण जो असंतोष इकट्ठा हो रहा है वह विस्फोट के साथ एक साथ मुक्त हो जाय। जैसा कि कहा जाता है कि तूफान से पहले नीरवता छाई रहती है। इसी प्रकार जनता की वर्तमान ठंडी प्रतिक्रिया क्रांति से पहले की हालात की बयां भी हो सकती है। हमें यह भी समझना चाहिए कि आज भले जनता के बहुत विशाल और संगठित प्रतिरोध के स्वर न गूंज रहे हों किंतु जनता में अलग-अलग स्थानों पर कभी पानी तो कभी बिजली, कभी अतिक्रमण के विरुद्ध तो कभी पुलिसिया दमन व अन्यान्य सामाजिक समस्याओं को लेकर स्वतः स्फूर्त विस्फोट होते रहते हैं। जब समाज में ऐसे स्वतः स्फूर्त विस्फोट होते भी हैं तो जनता की पिछड़ी चेतना के कारण वह बुर्जुआ दायरे में सिमट जाती है। बुर्जुआ विचारधारा के प्रभाव के कारण पूंजीवादी पार्टियां या नेता जनता को ऐसे समयों में नेतृत्व प्रदान कर ले जाते हैं और अपने राजनीतिक फायदों के लिए उसका इस्तेमाल कर लेते हैं। कम्युनिस्ट क्रांतिकारी शक्तियों की

इतनी ताकत नहीं होती है और न तैयारी होती है कि वे इन स्वतः स्फूर्त आंदोलनों को नेतृत्व प्रदान कर सकें। ऐसे में हम इन स्वतः स्फूर्त आंदोलनों के समय या तो अलग खड़े होकर तमाशा देखते हैं या फिर ऐसे आंदोलनों के पीछे-पीछे घिसटने को बाध्य होते हैं।

III

इस लेख के दूसरे भाग में हम देख चुके हैं कि क्रांति की वस्तुगत परिस्थितियां तैयार न होने, क्रांतिकारी संकट की गैर मौजूदगी में तथा क्रांतिकारी विस्फोटों की स्थिति में, दोनों ही स्थितियों में क्रांति को संगठित करने वाली, क्रांति को नेतृत्व प्रदान करने वाली शक्तियां निर्णायक बन जाती हैं। अर्थात् यदि आत्मगत शक्तियों की तैयारी न हो तो क्रांतिकारी विस्फोट होने पर भी क्रांति नहीं होगी और न ही हम क्रांति को नजदीक लाने में कोई भूमिका अदा कर पायेंगे।

इसमें सबसे महत्वपूर्ण भूमिका होती है क्रांतिकारी पार्टी की लाइन की अर्थात् उसकी विचारधारा तथा राजनीतिक व सांगठनिक कार्य दिशा की। यदि किसी क्रांतिकारी पार्टी की विचारधारात्मक तथा राजनैतिक व सांगठनिक लाइन सटीक नहीं है तो वह पार्टी न तो जनगोलबंदी कर सकती है और न ही क्रांति। ऐसी पार्टी लंबे समय तक अपने क्रांतिकारी चरित्र को भी बचाकर नहीं रख सकेगी। किसी भी कम्युनिस्ट पार्टी को विचारधारात्मक राजनीतिक संघर्ष के द्वारा निरंतर अपने भीतर से विजातीय विचारों को निकालते रहना पड़ेगा। विचारधारात्मक-राजनीतिक संघर्ष के माध्यम से ही कोई कम्युनिस्ट पार्टी निरंतर विकास कर सकती है। इस प्रक्रिया में ही वह अपनी पार्टी लाइन को और ज्यादा सुसंगत बना सकती है।

किंतु यदि कोई सोचता है कि एक सही पार्टी लाइन ही हमारी समस्याओं का समाधान कर देगी तो यह निरा भोलापन होगा। कितनी भी शानदार पार्टी लाइन क्यों न विकसित कर ली जाय किंतु यदि वह महज सांगठनिक-राजनीतिक दस्तावेजों में व प्रस्तावों में दर्ज है तो वह किसी काम की नहीं है। सही से सही पार्टी लाइन भी भौतिक शक्ति तभी बनती है जब वह जनता के बीच स्थापित हो और जनता उसके इर्द-गिर्द संगठित हो। इसका अर्थ यह कहीं से नहीं है कि बिना व्यापक जनसमुदाय में पैठ बनाये ऐसी सही लाइन विकसित की जा सकती है।

पार्टी लाइन के बाद यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि पार्टी लाइन को मजदूर वर्ग व अन्य मेहनतकश जनता में स्थापित किया जाय। पार्टी लाइन को समाज में स्थापित करने के लिए पार्टी व पार्टी के जनसंगठन महत्वपूर्ण हो जाते हैं। वैसे भी जब एक बार पार्टी लाइन तय हो जाती है तो सांगठनिक काम ही सब कुछ तय करता है। पार्टी व जनसंगठन निरंतर जनता के बीच पार्टी की विचारधारात्मक, राजनीतिक अवस्थितियों को लेकर जाते हैं, जनसमुदाय को उन अवस्थितियों पर खड़ा करते हैं। उन अवस्थितियों के लिए समाज में संघर्ष करते हैं। उन अवस्थितियों के आधार पर व्यावहारिक कामों को अमली जामा पहनाया जाता है। पार्टी अपने कार्यकर्ताओं के माध्यम से पार्टी की विचारधारात्मक-राजनीतिक अवस्थितियों को जनता तक पहुंचाती है। पार्टी के कार्यकर्ता जितने बेहतर तरीके से पार्टी लाइन को समझेंगे और अमल में लायेंगे, उतना ही बेहतर होता है। सही मायने में ये कार्यकर्ता ही जनसमुदाय के साथ अंतर्क्रिया करते हैं और वे ही पार्टी लाइन के वाहक होते हैं। इसलिए पार्टी के कार्यकर्ता काफी महत्वपूर्ण हो जाते हैं। इस संदर्भ में स्तालिन ने कहा है:

> "कुछ लोग सोचते हैं कि विजय होने के लिए पार्टी लाइन का सही निर्धारण, सभी को सूचित करने के लिए इसकी घोषणा, आम धारणाओं और प्रस्तावों के रूप में इसको प्रस्तुत करना और एकमत से इस पर मतदान करना ही पर्याप्त है, जैसी कि यह खुद-ब-खुद थी। वास्तव में, यह गलत है। यह एकदम भ्रम है। केवल दुरुस्त न किये जा सकने वाले नौकरशाह और लालफीताशाही ऐसा सोच सकती है। सचमुच, ये सफलताएं और विजयें खुद-ब-खुद नहीं आती बल्कि पार्टी लाइन के अनुप्रयोग के लिए निष्ठुर संघर्ष के परिणाम के रूप में आती हैं। विजयें कभी खुद नहीं आतीं- सामान्य रूप से प्रयासों से प्राप्त की जाती हैं। पार्टी की आमनीति के पक्ष में अच्छे प्रस्ताव और घोषणायें केवल शुरूआत हैं; वे केवल विजय की इच्छा को व्यक्त करती हैं, खुद विजय को नहीं। सही लाइन के आ जाने के बाद, समस्या के सही समाधान को प्राप्त कर लेने के बाद सफलता, काम कैसे संगठित किया गया है: पार्टी लाइन को पूर्ण करने के लिए संघर्ष के संगठन पर, व्यक्तियों के उचित चुनाव पर, नेतृत्वकारी निकायों के निर्णयों के पूरा होने के निरीक्षण पर, निर्भर करती है। अन्यथा पार्टी की सही लाइन और सही समाधान को गंभीर रूप से पूर्वाग्रह ग्रस्त होने का खतरा है। इससे भी अधिक, सही राजनैतिक लाइन आ जाने के बाद, सांगठनिक कार्य सब कुछ, खुद राजनैतिक लाइन के भविष्य को, इसकी सफलता या असफलता को तय करता है।"

- (J.V. Stalin, Problem's of Leninism, Foreign Languages Press, Peking 1976, Page -751, अनुवाद हमारा **)**

स्पष्ट है कि पार्टी लाइन के सूत्रित हो जाने के बाद पार्टी की लाइन के भविष्य के लिए भी सांगठनिक काम अर्थात् पार्टी और उसके जनसंगठनों का जनसमुदाय के बीच काम ही प्रधानता हासिल कर लेता है। किंतु हमारे देश में पार्टी और उसके नेतृत्व में जनसंगठनों की स्थिति क्या है? हमारे देश में हम अभी तक एक अखिल भारतीय पार्टी के गठन से भी कोसों दूर हैं। इसके लिए जिन विचारधारात्मक-राजनैतिक क्रियाकलापों की जरूरत है, हम उससे दूर हैं। हमारे देश में जो पूर्व पार्टी संगठनों के रूप में कम्युनिस्ट संगठन विद्यमान हैं वे भी मजदूर वर्ग और अन्य जनसमुदाय में गहरे पैठ नहीं बना पाये हैं। क्या हमें अपने पार्टी-संगठन और उसके नेतृत्व में मौजूद

जनसंगठनों को जनता के साथ एकीकरण की जरूरत नहीं है? क्या हमें ऐसी शक्तियों की जरूरत नहीं है जो मजदूर वर्ग व अन्य मेहनतकशों की गोलबंदी के काम में भारी पैमाने पर लग सकें? क्या हमें ऐसे लाखों कार्यकर्ताओं की आवश्यकता नहीं है जिन्हें प्रचार और आंदोलन का गंभीर अनुभव प्राप्त हो? क्या हमें ऐसे कार्यकर्ताओं की जरूरत नहीं है जो त्याग और कुर्बानी की भावना के साथ पार्टी लाइन को व्यवहार में उतारने के लिए दिलो जान से जुटे रहें? निश्चय ही हमें ऐसी पार्टी और ऐसे कार्यकर्ताओं को तैयार करने की जरूरत है जो जनसमुदाय का शिक्षण-प्रशिक्षण करते हुए उनका क्रांतिकारीकरण कर सकें और व्यावहारिक कामों के दौरान जनसमुदाय का मार्गदर्शन कर सकें।

> “सच बात यह है कि समाज “काम” के योग्य **बहुत से** व्यक्तियों को जन्म देता है, पर हम उन सबसे काम नहीं ले पाते। इस दृष्टि से हमारे आंदोलन की संकटमय तथा संक्रमण कालीन अवस्था का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है: **हमें लोग नहीं मिलते- हालांकि लोग बेशुमार हैं**। लोग बेशुमार हैं, क्योंकि मजदूर वर्ग तथा समाज के अन्य विभिन्न हिस्से भी वर्ष-प्रति-वर्ष अधिकाधिक ऐसे लोगों को जन्म देते जाते हैं, जो असंतुष्ट हैं और अपना असंतोष व्यक्त करना चाहते हैं, जो उस निरंकुशता के खिलाफ संघर्ष में भरसक मदद करना चाहते हैं, जिसके असहनीय रूप को अभी सबने तो नहीं पहचाना है, पर जिसे बढ़ती हुई संख्या में लोग दिनोंदिन अधिक तेजी से महसूस करने लगे हैं। साथ ही, हमें लोग इसलिए नहीं मिलते कि हमारे पास ऐसे नेता नहीं है, ऐसे राजनीतिक नेता, इतने प्रतिभाशाली संगठनकर्ता नहीं हैं जो इतने व्यापक आधार पर और साथ ही ऐसे सुचारू तथा समुचित ढंग से काम का संगठन कर सकें, जिससे सभी प्रकार की शक्तियों का, यहां तक कि छोटी से छोटी और महत्वहीन शक्तियों का भी उसमें भाग लेना संभव हो। ...” (लेनिन, क्या करें, प्रगति प्रकाशन मास्को, पृष्ठ 166, जोर मूल में)

इस सबको करने के लिए हमें पूरे जी जान से जुटना होगा। इन शर्तों को बिना पूरा किये हम मजदूर वर्ग सहित अन्य मेहनतकश जनसमुदाय के क्रांतिकारीकरण की प्रक्रिया को एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सकते। और तब हम क्रांति की ओर भी एक डग आगे नहीं बढ़ा पायेंगे। जनसमुदाय से विमुख पार्टियां क्रांति नहीं कर सकती हैं। क्रांतियां जनसमुदाय ही करता है। पार्टियां जनसमुदाय का नेतृत्व करती हैं। किंतु निष्क्रिय जनसमुदाय भी क्रांति नहीं कर सकता। क्रांतिकारी जनता ही क्रांति संपन्न करती है। जनता के क्रांतिकारीकरण का काम लम्बा है और धैर्य के साथ करने की मांग करता है। इस पूरी प्रक्रिया में पार्टियां जनता को शासकवर्गों के विरुद्ध लड़ने के लिए तैयार करती हैं, जनसमुदाय को क्रांतिकारी राजनीति और क्रांतिकारी नारों के इर्द-गिर्द गोलबंद करती हैं। व्यावहारिक संघर्ष की प्रक्रिया में ही पार्टियां और संगठन जनता का विश्वास जीत पाते हैं। ऐसी पार्टी और संगठन जब क्रांतिकारी कार्यवाही के लिए जनसमुदाय का आह्वान करते हैं तो करोड़ों-करोड़ जनसमुदाय क्रांति में हिस्सेदारी करके उसका जवाब देता है। क्रांतिकारी विचारों से लैस जनता एक अजेय शक्ति बन जाती है। यही वह क्रांतिकारी जनता होती है जो क्रांति के दौरान पूरे अनुशासन से संगठित गतिविधियां करने में सफल होती है। ऐसी सचेत और प्रशिक्षित क्रांतिकारी जनता ही इतिहास का निर्माण करती है हालांकि निश्चित परिस्थितियों और सीमाओं के भीतर। रूसी समाजवादी क्रांति से लेकर चीन व वियतनाम तक सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में चले संघर्षों में हमें क्रांतिकारी जनता की यही महान भूमिका नजर आती है।

हमें जनसमुदाय के क्रांतिकारीकरण के काम को पूरे धैर्य और लगन के साथ करने की जरूरत है। हमें जनसमुदाय का भरोसा जीतने की जरूरत है। क्रांतिकारी कार्यवाहियों के लिए जनसमुदाय के शिक्षण और प्रशिक्षण की जरूरत है।

किंतु उपर्युक्त की रोशनी में हम देखते हैं कि हमारा काम क्रांति की तैयारियों के दृष्टिकोण से कितनी कमजोर स्थिति में खड़ा है। और हमें कितना ज्यादा काम करना है: विचारधारात्मक-राजनीतिक स्तर पर काम, अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी गठन का काम, जब तक पार्टी गठन नहीं होता तब तक पूर्व पार्टी संगठनों में नेताओं और कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण का काम, जनसमुदाय के क्रांतिकारीकरण का काम। इस कार्यभार को किये बगैर हम क्रांति कैसे संपन्न कर सकते हैं?

जब हम पूरी दृढ़ता, धैर्य और लगन के साथ इस काम को करेंगे तभी हम जनता में मौजूद निराशा और पस्तहिम्मती को दूर कर पायेंगे। उसे एकजुट कर संघर्ष में उतार पायेंगे। जनसमुदाय में क्रांति के प्रति आशा और उत्साह का संचार कर सकेंगे। इसके साथ ही जनसमुदाय के छोटे-बड़े स्वतः स्फूर्त आंदोलनों का नेतृत्व करते हुए उन्हें सही दिशा भी दे पायेंगे। इसके साथ ही हम उस स्थिति के लिए भी खुद को तैयार कर पायेंगे जब किन्हीं घटनाओं के कारण क्रांतिकारी विस्फोट की स्थिति पैदा हो गई हो और जनसमुदाय शासक वर्गों के विरुद्ध संघर्ष में निरंतर आगे बढ़ रहा हो। अपनी तैयारी की स्थिति में ही हम क्रांतिकारी विस्फोटों की अवस्था में जनसमुदाय को क्रांति की ओर ले जा सकते हैं।

ऐसी तैयारी की प्रक्रिया में और तैयारी की स्थिति में ही हम क्रांतिकारी परिस्थिति, क्रांतिकारी संकट को नजदीक लाने में भूमिका निभा सकते हैं। क्रांतिकारी संकट के पैदा होने में वस्तुगत कारकों और आत्मगत कारकों दोनों की ही भूमिका होती है। यह सही है कि क्रांतिकारी संकट मूलतः वस्तुगत कारकों की वजह से ही उत्पन्न होता है किंतु यह भी सही है कि अपनी बारी में आत्मगत शक्तियों की मजबूती क्रांतिकारी संकट को नजदीक लाने में अपनी भूमिका अदा करती है।

IV

अतीत में इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों के बीच बहुमान्यता प्राप्त धारणा यह थी कि इतिहास का निर्माण महान पुरुषों द्वारा किया जाता है। अतीत में सारा इतिहास राजा-महाराजाओं की वीरगाथाओं के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता था और अनेकानेक इतिहासकार आज भी ऐसा ही कर रहे हैं। जनसमुदाय तो केवल भीड़ मात्र था जिसे महान पुरुषों के पीछे-पीछे ही चलना होता था।

किंतु मार्क्सवाद ने इसके बजाय यह बताया कि इतिहास को आगे बढ़ाने वाली निर्णायक शक्ति जनसमुदाय होता है। किंतु तब भी इतिहास में हम ऐसे व्यक्तियों को पाते हैं जिन्होंने इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। तो क्या इसका मतलब यह है कि मार्क्सवाद महान व्यक्तियों की भूमिका से इन्कार करता है? ऐसा नहीं है, इसके बजाय मार्क्सवाद इस बात पर जोर देता है कि इतिहास के निर्माता जनसमुदाय हैं न कि महान लोग।

हम पाते हैं कि ये महान विभूतियां हमेशा पैदा नहीं होती हैं। इसका क्या कारण है कि ये महान लोग इतिहास के किन्हीं खास दौरों में ही पैदा होते हैं? क्यों ये महान लोग इतिहास में एक प्रकार की भूमिका अदा करते हैं दूसरी तरह की नहीं? क्या कोई महान व्यक्ति ऐतिहासिक विकास की किसी खास मंजिल को लांघ सकता है? या दूसरे शब्दों में क्या कोई महान व्यक्ति ऐतिहासिक विकास की गति को रोक सकता है?

इन प्रश्नों को खड़ा करते ही हमें इतिहास में व्यक्तियों की भूमिका की सीमायें समझ में आने लगती हैं।

यह सही है कि समाज विकास के क्रम में कुछ व्यक्तियों द्वारा विशेष भूमिका अदा की जाती है किंतु ऐसे महान व्यक्ति जो भी भूमिका अदा करते हैं वह इतिहास और विशिष्ट परिस्थितियों के कारण ही कर पाते हैं अथवा दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि स्वयं महान व्यक्ति इतिहास और कुछ निश्चित सामाजिक परिस्थितियों की उपज होते हैं।

> "इसलिए जब प्रश्न उन प्रेरक शक्तियों की छानबीन का होता है, जो चेतन अथवा अचेतन रूप में, और ज्यादातर अचेतन रूप में ही इतिहास में कार्यरत मनुष्यों की प्रेरणा के पीछे छिपी रहती हैं ओर जो इतिहास की वास्तविक प्रेरक शक्तियां हैं, तब प्रश्न इतना अधिक अलग-अलग व्यक्तियों की प्रेरणाओं का नहीं रहता, चाहे ये व्यक्ति कितने ही महान क्यों न हों, जितना कि उन प्रेरक शक्तियों का बन जाता है, जो विशाल जन-समूहों को, पूरे राष्ट्रों को, और प्रत्येक राष्ट्र में पूरे के पूरे वर्गों को- केवल क्षणिक काल के लिए नहीं, भभक कर बुझ जाने वाली पयाल की आग की तरह किसी क्षणिक उत्तेजक कार्यवाही के लिए नहीं, बल्कि इतिहास में महान् रूपांतरण करने वाले स्थायी कार्य के लिए- गतिशील करती हैं। उन प्रेरक कारणों का पता लगाना जो क्रियाशील जनगण और उनके नेताओं- तथाकथित महापुरूषों- के दिमाग में चेतना प्रेरणा बनकर स्पष्ट या अस्पष्ट, प्रत्यक्ष या विचारधारात्मक या गौरवमंडित रूप तक में प्रतिबिम्बित होते हैं- यही अकेला मार्ग है जो हमें उन नियमों की ओर ले जा सकता है, जो समग्रतः इतिहास और विशेष युगों में या विशेष देशों- दोनों- में ही प्रभावशाली रहते हैं। मानव को गतिमान करने वाली हर चीज का उसके मस्तिष्क से होकर गुजरना अनिवार्य है; किंतु वह चीज मानव मस्तिष्क में कौन सी शक्ल अख्तियार करेगी, यह बहुत कुछ परिस्थितियों पर निर्भर करता है।..." (एंगेल्स, लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अंत, खण्ड-3 भाग-2, प्रगति प्रकाशन मास्को, पृष्ठ-252)

और इतिहास की ये प्रेरक शक्तियां उत्पादक शक्तियों और उत्पादन संबंधों का अन्तर्विरोध हैं, वर्गों के अपने-अपने हित हैं। वर्गों के संघर्षों के पीछे यही हित काम करते हैं। इन वर्गों के हितों की नुमांइदगी उनकी राजनैतिक पार्टियां करती हैं और इन पार्टियों के कार्यकलाप का निदेशन उनके सबसे अधिक अनुभवी और प्रतिभाशाली नेताओं द्वारा किया जाता है। जो वर्ग इतिहास की गति के सबसे अनुकूल होता है वही वर्ग इतिहास में नेतृत्वकारी और निर्णायक भूमिका अदा करता है। और जो व्यक्ति वर्गों के हितों को सबसे अच्छे ढंग से व्यक्त कर रहा होता है, जो व्यक्ति इतिहास की गति के साथ खड़ा होता है (निश्चय ही इतिहास की यह गति वर्गों के संघर्षों के कुल योग से तय होती है) उसी के महान बनने की संभावना पैदा होती है। निश्चय ही महान भूमिका अदा करने के लिए किसी व्यक्ति का प्रतिभाशाली होना आवश्यक है। किंतु ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति महान भूमिका तभी अदा कर पाते हैं, जब उसके लिए अनुकूल सामाजिक संबंध उन्हें प्राप्त हों।

यदि इतिहास के किसी कालखण्ड में सामाजिक जरूरतों को पूरा करने के लिए किसी व्यक्ति विशेष की आवश्यकता पैदा हो चुकी है तो उसका आना अनिवार्य है। चाहे एक व्यक्ति आये या उसके स्थान पर दूसरा और यह बहुत कुछ संयोग पर निर्भर करता है।

> "...उनकी आकांक्षाएं एक दूसरे के साथ टकराती हैं और इस कारण ऐसा प्रत्येक समाज **आवश्यकता** द्वारा शासित होता है, जिसका पूरक तथा अभिव्यक्ति का रूप **संयोग** होता है। यहां जो आवश्यकता समस्त संयोगों पर हावी होती है, वह अंततः आर्थिक आवश्यकता ही होती है। और यहां तथाकथित महापुरूषों की चर्चा आवश्यक हो जाती है। यह बात कि देश विशेष में, काल विशेष में अमुक पुरूष सामने आता है, और दूसरा नहीं, विशुद्ध संयोग है। लेकिन उसे अलग कर दीजिए, तो उसकी जगह दूसरे की अपेक्षा की जायेगी और यह दूसरा व्यक्ति पाया जायेगा- वह अच्छा हो या बुरा, लेकिन अंत में वह पाया जरूर जायेगा। नेपोलियन ही, ठीक यह कोर्सिका निवासी ही वह फौजी अधिनायक बना, जिसके आविर्भाव को अपनी ही लड़ाइयों में क्लांत-जर्जर फ्रांसीसी जनतंत्र ने आवश्यक बना दिया था, यह संयोग की बात थी; परंतु अगर नेपोलियन नहीं होता तो इस अभाव की पूर्ति कोई दूसरा करता; इसका प्रमाण यह है कि जिस व्यक्ति की जरूरत पड़ी वह पाया भी गया, जैसे सीजर, आगस्टस, क्रामवेल आदि। यदि मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा की खोज की, तो प्येरीं, मिन्ये, गीजो और 1850 तक सभी अंग्रेज इतिहासकार इस बात का साक्ष्य हैं कि इस अवधारणा की खोज की जाने वाली थी, और मोर्गन द्वारा इसी अवधारणा की खोज से साबित होता है कि उसका समय आ गया था और उसकी खोज **होनी ही थी**।

(ब्रेस्लाव्ल डब्ल्यू. बोरगियस को एंगेल्स, लंदन, 25 जनवरी, 1894, संकलित पत्र व्यवहार, प्रगति प्रकाशन मास्को, पृष्ठ 342, जोर मूल में)

> “अगर ऐसी अनुकूल अवस्था होने पर ही संघर्ष छेड़ा जाय, जिसमें चूक की कोई गुंजाइश न हो, तो सचमुच ही विश्व इतिहास की रचना अत्यंत सरल हो जायेगी। दूसरी ओर, यदि “संयोग” का इतिहास में योगदान न होता, तो उसका चरित्र घोर रहस्यवादी हो जाता। ये संयोग विकास के सामान्य क्रम के संघटक अंग होते हैं और अन्य संयोगों द्वारा संतुलित होते रहते हैं। पर तेज गति या विलम्ब बहुत कुछ ऐसे संयोगों पर अवलम्बित होते हैं, जिनमें यह “संयोग” भी सम्मिलित है कि आंदोलन का पहले-पहल नेतृत्व करने वाले लोगों का कैसा चरित्र है।
>
> (हैनोवर में लुडविग कुगेलमान को मार्क्स, लंदन, 17अप्रैल, 1871, संकलित पत्र व्यवहार 1844 -95, प्रगति प्रकाशन मास्को, पृष्ठ 184)

इस प्रकार हम इसे रूसी क्रांति के संदर्भ में भी देख सकते हैं। रूसी क्रांति को संगठित करने और संपन्न करने में लेनिन ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता है। रूसी कम्युनिस्ट आंदोलन और बोल्शेविक पार्टी का उदय रूस के इतिहास और परिस्थितियों की उपज थी। इस इतिहास को और उन परिस्थितियों को न तो बोल्शेविकों ने और न ही लेनिन ने पैदा किया था। रूस के इतिहास और परिस्थितियों का निर्माण आर्थिक कारकों की बदौलत हुआ था। बोल्शेविक पार्टी जैसी पार्टी ही उस समय की ऐतिहासिक आवश्यकता थी और यदि इस आवश्यकता की पूर्ति में लेनिन योगदान न करते तो कोई अन्य करता। यह संयोग की बात है कि उस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति लेनिन ने की। रूसी क्रांति में लेनिन महत्वपूर्ण भूमिका सशक्त और अनुभवी बोल्शेविक पार्टी की मौजूदगी में ही निभा सके। यदि ऐसी पार्टी न होती तो लेनिन वह महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा सकते थे जो उन्होंने निभाई। लेकिन साथ ही यह भी सच है कि अपनी प्रतिभा व अन्य गुणों के कारण लेनिन वह कर सके जो उसी समय रूसी क्रांतिकारी आंदोलन के अन्य नेता नहीं कर पाये।

इतिहास में व्यक्ति की भूमिका के संदर्भ में यह भी महत्वपूर्ण है कि नेताओं या महान व्यक्तियों के गुण ऐतिहासिक घटनाओं के व्यक्तिगत लक्षणों को ही निर्धारित करते हैं। वे उनकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को परिवर्तित नहीं कर सकते हैं।

> “यह बहुत पहले ही बताया जा चुका है कि महान योग्यताएं हमेशा और हर कहीं दृष्टिगोचर होती हैं जब और जहां कहीं सामाजिक स्थितियां उनके विकास के अनुकूल मौजूद होती हैं। इसका अभिप्राय है कि कोई योग्यता जो **वास्तविक रूप से खुद को अभिव्यक्त करती है** अर्थात् कोई योग्यता जो **सामाजिक शक्ति हो जाती है, सामाजिक सम्बंधों का परिणाम होती है।** किंतु यदि ऐसा है तो कोई समझ सकता है क्यों प्रतिभावान लोग, जैसा कि हमने कहा है, घटनाओं के केवल व्यक्तिगत लक्षणों को परिवर्तित कर सकते हैं, उनकी सम्पूर्ण प्रवृत्ति को नहीं **वे खुद केवल उस प्रवृत्ति के कारण अस्तित्वमान होते हैं और उसके बिना वे संभावना और वास्तविकता के बीच की सीमा को कभी नहीं पार कर पाते।**” (**Gerogi Plekhanov, on the Individual role in history, Volume II, Progess Publishers, Moscow, Page 310**, अनुवाद हमारा, जोर मूल में)

हमें इतिहास में क्रांति और प्रतिक्रांति की घटनाओं में यही दिखायी देता है। महान से महान व्यक्ति भी चीजों के स्वभाविक क्रम (Natural Course) को न तो रोक सकता है और न ही बदल सकता है। माओ चीनी क्रांति के नेता थे, नायक थे। उनके नेतृत्व में ही चीनी जनसमुदाय ने घरेलू और बाहरी दुश्मनों को वीरतापूर्वक लड़ते हुए संघर्षों में पराजित किया था किन्तु माओ के जीवित रहते हुए ही ल्यू-शाओ-ची और देंङ-श्याओ-पिंङ एक मजबूत क्रांति विरोधी, सर्वहारा विरोधी प्रवृत्ति के रूप में उभर आये और वह भी क्रांति के दशक के भीतर ही। और यही प्रवृत्ति अंततः विजयी होकर प्रतिक्रांति करने में सफल रही। यह ठीक है कि माओ के रहते यह तख्तापलट सम्भव नहीं हुआ। किंतु यह सोचना कि माओ के रहते यह प्रतिक्रांतिकारी विप्लव नहीं हो सकता था, गलत होगा। यह हो सकता था, और इसका पूरा आधार मौजूद था कि माओ के रहते प्रतिक्रांति हो जाती। ज्यादा से ज्यादा यही होता कि उनके गुणों के प्रभाव के कारण कुछ समय तक ऐसी प्रतिक्रांति विलंबित हो जाती।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि महान व्यक्ति की भूमिका इस अर्थ में महान होती है कि वह अपने समय की सामाजिक जरूरतों की सबसे अच्छे तरीके से सेवा करती है हालांकि ये सामाजिक आवश्यकतायें आम और विशेष कारणों के प्रभाव से पैदा होती हैं।

> ‘सही मायने में महान व्यक्ति प्रवर्तक होता है क्योंकि वह अन्य की तुलना में सबसे अधिक दूर तक देख सकता है और अन्यों की तुलना में उसकी आकांक्षायें ज्यादा मजबूत होती हैं।
>
> ‘वह व्यक्ति समाज के बौद्धिक विकास के क्रम में पहले से ही उठ चुकी समस्याओं का समाधान करता है। महान व्यक्ति सामाजिक सम्बंधों के विकास में पहले ही पैदा हो चुकी नई सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने में पहल कदमी लेता है। वह इस अर्थ में नायक नहीं होता है कि वह चीजों के स्वाभाविक क्रम को स्थगित कर सकता है या बदल सकता है बल्कि इस मायने में नायक होता है कि उसकी कार्यवाहियां उन आवश्यक और अवचेतन क्रम की सचेत और मुक्त अभिव्यक्ति होती है। इसी में उसका सारा महत्व निहित है। इसी में उसकी सारी शक्ति निहित है। इसका अत्यधिक महत्व है।’
>
> “ऐसा नहीं है कि अकेले “प्रवर्तक” लोगों के लिए और सिर्फ “महान” लोगों के लिए ही गतिविधियों का व्यापक क्षेत्र खुला हुआ है। यह उन सभी लोगों का इंतजार कर रहा है जिनके पास अपने लोगों को देखने के लिए आंखें, सुनने के लिए कान और प्यार करने के लिए दिल हैं। **महानता** की अवधारणा एक सापेक्षिक अवधारणा है। नैतिक अर्थ में ऐसा कोई भी व्यक्ति महान है, जो न्यू टेस्टामेंट के शब्दों में, अपने दोस्तों के लिए अपनी जान न्यौछावर कर देता है।”(वही, पेज 315, अनुवाद हमारा, जोर मूल में)

■■■